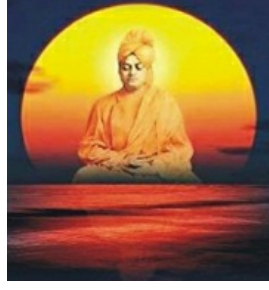


स्वामी विवेकानंद

कर्मयोग





कर्मयोग

स्वामी विवेकानंद



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

कर्म का चरित्र पर प्रभाव

कर्म शब्द 'कृ' धातु से निकला है; 'कृ' धातु का अर्थ है—करना। जो कुछ किया जाता है, वही कर्म है। इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ 'कर्मफल' भी होता है। दार्शनिक दृष्टि से यदि देखा जाए, तो इसका अर्थ कभी-कभी वे फल होते हैं, जिनका कारण हमारे पूर्व कर्म रहते हैं। परंतु कर्मयोग में कर्म शब्द से हमारा मतलब केवल कार्य ही है। मानवजाति का चरम लक्ष्य ज्ञानलाभ है। प्राच्य दर्शनशास्त्र हमारे सम्मुख एकमात्र यही लक्ष्य रखता है। मनुष्य का अंतिम ध्येय सुख नहीं वरन् ज्ञान है; क्योंकि सुख और आनंद का तो एक न एक दिन अंत हो ही जाता है। अतः यह मान लेना कि सुख ही चरम लक्ष्य है, मनुष्य की भारी भूल है। संसार में सब दुःखों का मूल यही है कि मनुष्य अज्ञानवश यह समझ बैठता है कि सुख ही उसका चरम लक्ष्य है। पर कुछ समय के बाद मनुष्य को यह बोध होता है कि जिसकी ओर वह जा रहा है, वह सुख नहीं वरन् ज्ञान है, तथा सुख और दुःख दोनों ही महान् शिक्षक हैं, और जितनी शिक्षा उसे सुख से मिलती है, उतनी ही दुःख से भी। सुख और दुःख ज्यों-ज्यों आत्मा पर से होकर जाते रहते हैं, त्यों-त्यों वे उसके ऊपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित करते जाते हैं। और इन चित्रों अथवा संस्कारों की समष्टि के फल को ही हम मानव का 'चरित्र' कहते हैं। यदि तुम किसी मनुष्य का चरित्र देखो, तो प्रतीत होगा कि वास्तव में वह उसकी मानसिक प्रवृत्तियों एवं मानसिक झुकाव की समष्टि ही है। तुम यह भी देखोगे कि उसके चरित्रगठन में सुख और दुःख दोनों ही समान रूप से उपादान-स्वरूप हैं। चरित्र को एक विशिष्ट ढाँचे में ढालने में अच्छाई और बुराई दोनों का समान अंश रहता है, और कभी-कभी तो दुःख-सुख से भी बड़ा शिक्षक हो जाता है। यदि हम संसार के महापुरुषों के चरित्र का अध्ययन करें, तो मैं कह सकता हूँ कि अधिकांश दशाओं में हम यही देखेंगे कि सुख की अपेक्षा दुःख ने तथा संपत्ति की अपेक्षा दारिद्र्य ने ही उन्हें अधिक शिक्षा दी है एवं प्रशंसा की अपेक्षा निंदारूपी आघात ने ही उसकी अंतस्थ ज्ञानाग्नि को अधिक प्रस्फुरित किया है।

यह ज्ञान मनुष्य में अंतर्निहित है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अंदर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक भाषा में व्यक्त करने पर हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार' करता है। मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है—मनुष्य का अपनी अनंत ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं कि न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं एक कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? नहीं, वह उसके मन में ही था। जब समय आया तो उसने उसे ढूँढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान लाभ किया है, वह मन से ही निकला है। विश्व का असीम पुस्तकालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन को अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपक तथा सहायक मात्र है; परंतु प्रत्येक समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही है। सेव का गिरना न्यूटन के लिए उद्दीपक कारणस्वरूप हुआ और उसने अपने मन का अध्ययन किया। उसने अपने मन में पूर्व से स्थित भाव-श्रृंखला की कड़ियों को एक बार फिर से व्यवस्थित किया तथा उनमें एक नई कड़ी का आविष्कार किया। उसी को हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेव में था और न पृथ्वी के केंद्र में स्थित किसी अन्य वस्तु में ही।

अतएव समस्त ज्ञान, चाहे वह व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकाशित न होकर ढका रहता है। और जब आवरण धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है।' ज्यों-ज्यों इस आविष्करण की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह-पर-तह पड़ा है, वह अज्ञानी है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण बिलकुल चला जाता है, वह सर्वज्ञ पुरुष कहलाता है। अतीत में कितने ही सर्वज्ञ पुरुष हो चुके हैं और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत से होंगे तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य पुरुष जन्म लेंगे। जिस प्रकार एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, उसी प्रकार मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपक-कारण घर्षणस्वरूप हो इस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है। ठीक ऐसा ही हमारे समस्त भावों और कार्यों के संबंध में भी है। यदि हम शांत होकर स्वयं का अध्ययन करें, तो प्रतीत होगा कि हमारा हँसना-रोना, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, हमारी शुभ कामनाएँ एवं शाप, स्तुति और निंदा ये सब हमारे मन के ऊपर बहिर्जगत् के अनेक घात-प्रतिघात के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं, और हमारा वर्तमान चरित्र इसी का फल है। ये सब घात-प्रतिघात मिलकर कर्म कहलाते हैं। आत्मा की आभ्यंतरिक अग्नि तथा उसकी अपनी शक्ति एवं ज्ञान को बाहर प्रकट करने के लिए जो मानसिक अथवा भौतिक घात उस पर पहुँचाए जाते हैं, वे ही कर्म हैं। यहाँ कर्म शब्द का उपयोग व्यापक रूप में किया गया है। इस प्रकार, हम सब प्रतिक्षण ही कर्म करते रहते हैं। मैं तुमसे बातचीत कर रहा हूँ—यह कर्म है, तुम सुन रहे हो—यह भी कर्म है; हमारा साँस लेना, चलना आदि भी कर्म है; जो कुछ हम करते हैं, वह शारीरिक हो अथवा मानसिक, सब कर्म ही है; और हमारे ऊपर वह अपना चिह्न अंकित कर जाता है।

कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं, जो मानो अनेक छोटे-छोटे कर्मों की समष्टि हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम समुद्र के किनारे खड़े हों और लहरों को किनारे से टकराते हुए सुनें, तो ऐसा मालूम होता है कि एक बड़ी भारी आवाज हो रही है। परंतु हम जानते हैं कि एक बड़ी लहर असंख्य छोटी-छोटी लहरों से बनी है। यद्यपि प्रत्येक छोटी लहर अपना शब्द करती है, परंतु फिर भी वह हमें सुनाई नहीं पड़ता। पर ज्योंही ये सब शब्द आपस में मिलकर एक हो जाते हैं, त्योंही बड़ी आवाज सुनाई देती है। इसी प्रकार हृदय की प्रत्येक धड़कन से कार्य हो रहा है। कई कार्य ऐसे होते हैं, जिनका हम अनुभव करते हैं; वे हमारे इंद्रियग्राह्य हो जाते हैं, पर साथ ही वे अनेक छोटे-छोटे कार्यों की समष्टिस्वरूप हैं। यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादुर

बन जाता है। मनुष्य के अत्यंत साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें हैं, जिनसे तुम्हें एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे-से-छोटे मनुष्य को भी किसी-न-किसी प्रकार का बड़प्पन दे देते हैं। परंतु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् रहता है।

व्यक्ति का जिन सब शक्तियों के साथ संबंध आता है, उनमें से कर्मों की वह शक्ति सबसे प्रबल है, जो व्यक्ति के चरित्रगठन पर प्रभाव डालती है। मनुष्य तो मानो एक प्रकार का केंद्र है, और वह संसार की समस्त शक्तियों को अपनी ओर खींच रहा है तथा इस केंद्र में उन सारी शक्तियों को आपस में मिलाकर उन्हें फिर एक बड़ी तरंग के रूप में बाहर भेज रहा है। यह केंद्र ही 'प्रकृत मानव' (आत्मा) है; यह सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है और समस्त विश्व को अपनी ओर खींच रहा है। भला-बुरा, सुख-दुःख सब उसकी ओर दौड़े जा रहे हैं, और जाकर उसके चारों ओर मानो लिपटे जा रहे हैं। और वह उन सब में से चरित्र-रूपी महाशक्ति का गठन करके उसे बाहर भेज रहा है। जिस प्रकार किसी चीज को अपनी ओर खींच लेने की उसमें शक्ति है, उसी प्रकार उसे बाहर भेजने की भी है।

संसार में हम जो सब कार्य-कलाप देखते हैं, मानव-समाज में जो सब गति हो रही है, हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, वह सारा-का-सारा केवल मन का ही खेल है—मनुष्य की इच्छाशक्ति का प्रकाश मात्र है। अनेक प्रकार के यंत्र, नगर, जहाज, युद्धपोत आदि सभी मनुष्य की इच्छाशक्ति के विकास मात्र हैं। मनुष्य की यह इच्छाशक्ति चरित्र से उत्पन्न होती है और वह चरित्र कर्मों से गठित होता है। अतएव, कर्म जैसा होगा, इच्छाशक्ति का विकास भी वैसा ही होगा। संसार में प्रबल इच्छाशक्ति संपन्न जितने महापुरुष हुए हैं, वे सभी धुरंधर कर्मी थे। उनकी इच्छाशक्ति ऐसी जबरदस्त थी कि वे संसार को भी उलट-पुलट दे सकते थे। और यह शक्ति उन्हें युग-युगांतर तक निरंतर कर्म करते रहने से प्राप्त हुई थी। बुद्ध एवं ईसा मसीह में जैसी प्रबल इच्छाशक्ति थी, वह एक जन्म में प्राप्त नहीं की जा सकती। और उसे हम आनुवंशिक शक्तिसंचार भी नहीं कह सकते, क्योंकि हमें ज्ञात है कि उनके पिता कौन थे। हम नहीं कह सकते कि उनके पिता के मुँह से मनुष्य-जाति की भलाई के लिए शायद कभी एक शब्द भी निकला हो। जोसेफ (ईसा मसीह के पिता) के समान तो असंख्य बढ़ई हो गए और आज भी हैं; बुद्ध के पिता के सदृश लाखों छोटे-छोटे राजा हो चुके हैं। अतः यदि वह बात केवल आनुवंशिक शक्ति-संचार के ही कारण हुई हो, तो इसका स्पष्टीकरण कैसे कर सकते हो कि इस छोटे से राजा को, जिसकी आज्ञा का पालन शायद उसके स्वयं के नौकर भी नहीं करते थे, ऐसा एक सुंदर पुत्र-रत्न लाभ हुआ, जिसकी उपासना लगभग आधा संसार करता है? इसी प्रकार, जोसेफ नामक बढ़ई तथा संसार में लाखों लोगों द्वारा ईश्वर के समान पूजे जानेवाले उसके पुत्र ईसा मसीह के बीच जो अंतर है, उसका स्पष्टीकरण कहाँ? आनुवंशिक शक्तिसंचार के सिद्धांत द्वारा तो इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। बुद्ध और ईसा इस विश्व में जिस महाशक्ति का संचार कर गए, वह आई कहाँ से? उस महान् शक्ति का उद्भव कहाँ से हुआ? अवश्य, युग-युगांतरों से वह उस स्थान में ही रही होगी, और क्रमशः प्रबलतर होते-होते अंत में बुद्ध तथा ईसा मसीह के रूप में समाज में प्रकट हो गई, और आज तक चली आ रही है।

यह सब कर्म द्वारा ही नियमित होता है। यह सनातन नियम है कि जब तक कोई मनुष्य किसी वस्तु का उपार्जन न करे, तब तक वह उसे प्राप्त नहीं हो सकती। संभव है, कभी-कभी हम इस बात को न मानें, परंतु आगे चलकर हमें इसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। एक मनुष्य चाहे जीवन भर धनी होने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करता रहे, हजारों मनुष्यों को धोखा दे, परंतु अंत में वह देखता है कि वह संपत्तिशाली होने का अधिकारी नहीं था। तब जीवन उसके लिए दुःखमय और दूभर हो उठता है। हम अपने भौतिक सुखों के लिए भिन्न-भिन्न चीजों को भले ही इकट्ठा करते जाएँ, परंतु वास्तव में जिसका उपार्जन हम अपने कर्मों द्वारा करते हैं, वही हमारा होता है। एक मूर्ख संसार भर की सारी पुस्तकें मोल लेकर भले ही अपने पुस्तकालय में रख ले, परंतु वह केवल उन्हीं को पढ़ सकेगा, जिनको पढ़ने का वह अधिकारी होगा, और यह अधिकार कर्म द्वारा ही प्राप्त होता है। हम किसके अधिकारी हैं, हम अपने भीतर क्या-क्या ग्रहण कर सकते हैं, इस सबका निर्णय कर्म द्वारा ही होता है।

अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही हैं; और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी—वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है, तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव हमें यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किए जाएँ। संभव है, तुम कहो, 'कर्म करने की शैली जानने से क्या लाभ?' संसार में प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार से तो काम करता ही रहता है। परंतु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शक्तियों का निरर्थक क्षय भी कोई चीज होती है। गीता का कथन है, कर्मयोग का अर्थ है—कुशलता से अर्थात् वैज्ञानिक प्रणाली से कर्म करना। कर्मानुष्ठान की विधि ठीक-ठीक जानने से मनुष्य को श्रेष्ठ फल प्राप्त हो सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि समस्त कर्मों का उद्देश्य है मन के भीतर पहले से ही स्थित शक्ति को प्रकट कर देना, आत्मा को जाग्रत कर देना। प्रत्येक मनुष्य के भीतर पूर्ण शक्ति और पूर्ण ज्ञान विद्यमान है। भिन्न-भिन्न कर्म इन महान् शक्तियों को जाग्रत करने तथा बाहर प्रकट कर देने में साधन मात्र हैं।

मनुष्य अनेक प्रकार के हेतु लेकर कार्य किया करता है, क्योंकि बिना हेतु के कार्य हो ही नहीं सकता। कुछ लोग यश चाहते हैं, और वे यश के लिए काम करते हैं। दूसरे पैसा चाहते हैं, और वे पैसे के लिए काम करते हैं। फिर कोई अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, और वे अधिकार के लिए काम करते हैं। कुछ और स्वर्ग पाना चाहते हैं, और वे उसी के लिए प्रयत्न करते हैं। फिर कुछ लोग अपने बाद अपना नाम छोड़ जाने के इच्छुक होते हैं। चीन देश में प्रथा है कि मनुष्य की मृत्यु के बाद ही उसे उपाधि दी जाती है; किसी ने यदि बहुत अच्छा कार्य किया, तो उसके

मृत-पिता अथवा पितामह को कोई सम्माननीय उपाधि दे दी जाती है। कुछ लोग उसी के लिए यत्न करते हैं। विचार करके देखने पर यह प्रथा हमारे यहाँ की अपेक्षा अच्छी ही कही जा सकती है। इस्लाम धर्म के कुछ संप्रदायों के अनुयायी इस बात के लिए आजन्म काम करते रहते हैं कि मृत्यु के बाद उनकी एक बड़ी कब्र बने। मैं कुछ ऐसे संप्रदायों को जानता हूँ, जिनमें बच्चे के पैदा होते ही उसके लिए एक कब्र बना दी जाती है, और यही उन लोगों के अनुसार मनुष्य का सबसे जरूरी काम होता है। जिसकी कब्र जितनी बड़ी और सुंदर होती है, वह उतना ही अधिक सुखी समझा जाता है। कुछ लोग प्रायश्चित्त के रूप में कर्म किया करते हैं, अर्थात् अपने जीवन भर अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म कर चुकने के बाद एक मंदिर बनवा देते हैं, अथवा पुरोहितों को कुछ धन दे देते हैं, जिससे कि वे उनके लिए मानो स्वर्ग का टिकट खरीद देंगे! वे सोचते हैं कि बस इससे रास्ता साफ हो गया, अब हम निर्विघ्न चले जाएँगे। इस प्रकार, मनुष्य को कार्य में लगानेवाले बहुत से उद्देश्य रहते हैं, ये उनमें से कुछ हुए।

अब हम कार्य के लिए ही कार्य—इस के संबंध में कुछ विचार करते हैं। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे नर-रत्न होते हैं, जो केवल कर्म के लिए ही कर्म करते हैं। वे नाम-यश अथवा स्वर्ग की भी परवाह नहीं करते। वे केवल इसलिए कर्म करते हैं कि उससे दूसरों की भलाई होती है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो और भी उच्चतर उद्देश्य लेकर गरीबों के प्रति भलाई तथा मनुष्य-जाति की सहायता करने के लिए अग्रसर होते हैं, क्योंकि भलाई में उनका विश्वास है और उसके प्रति प्रेम है। देखा जाता है कि नाम तथा यश के लिए किया गया कार्य बहुधा शीघ्र फलित नहीं होता। ये चीजें तो हमें उस समय-प्राप्त होती हैं, जब हम वृद्ध हो जाते हैं और जिंदगी की आखिरी घड़ियाँ गिनते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य निस्स्वार्थता से कार्य करे, तो क्या उसे कोई फलप्राप्ति नहीं होती? असल में तभी तो उसे सर्वोच्च फल की प्राप्ति होती है और सच पूछा जाए, तो निस्स्वार्थता अधिक फलदायी होती है, पर लोगों में इसका अभ्यास करने का धीरज नहीं रहता। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह अधिक लाभदायक है। प्रेम, सत्य तथा निस्स्वार्थता नीति-संबंधी आलंकारिक वर्णन मात्र नहीं है, वे तो हमारे सर्वोच्च आदर्श हैं, क्योंकि वे शक्ति की महान् अभिव्यक्ति हैं।

पहली बात यह है कि यदि कोई मनुष्य पाँच दिन, उतना क्यों, पाँच मिनट भी बिना भविष्य का चिंतन किए, बिना स्वर्ग, नरक या अन्य किसी के संबंध में सोचे, निस्स्वार्थता से काम कर सके तो वह एक महापुरुष बन सकता है। यद्यपि इसे कार्यरूप में परिणत करना कठिन है, फिर भी अपने हृदय के अंतस्तल से हम इसका महत्त्व समझते हैं और जानते हैं कि इससे क्या भलाई होती है। यह शक्ति की महत्तम अभिव्यक्ति है, इसके लिए प्रबल संयम की आवश्यकता है। अन्य सब बहिर्मुखी कर्मों की अपेक्षा इस आत्मसंयम में शक्ति का अधिक प्रकाश होता है। एक चार घोड़ोंवाली गाड़ी उतार पर बड़ी आसानी से धड़धड़ाती हुई आ सकती है, अथवा सईस घोड़ों को रोक सकता है। इन दोनों में अधिक शक्ति का विकास किसमें होता है? घोड़ों को छोड़ देने में, अथवा उन्हें रोकने में? एक तोप का गोला हवा में काफी दूर तक चला जाता है और फिर गिर पड़ता है। परंतु दूसरा दीवार से टकराकर रुक जाने से उतनी दूर नहीं जा सकता, पर उस टकराने से बड़ी अहा-सी निकलती है। इसी प्रकार, मन की सारी बहिर्मुखी गति किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य की ओर दौड़ती रहने से छिन्न-भिन्न होकर बिखर जाती है, वह फिर तुम्हारे पास लौटकर तुम्हारे शक्तिविकास में सहायक नहीं होती। परंतु यदि उसका संयम किया जाए, तो उससे शक्ति की वृद्धि होती है। इस आत्मसंयम से एक महान् इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है; वह एक ऐसे चरित्र का निर्माण करता है, जो जगत् को अपने इशारे पर चला सकता है। अज्ञानियों को इस रहस्य का पता नहीं रहता, परंतु फिर भी वे मनुष्य-जाति पर शासन करने के इच्छुक रहते हैं।

एक अज्ञानी पुरुष भी यदि धीरज रखे, तो समस्त संसार पर शासन कर सकता है। यदि वह कुछ वर्ष तक धीरज रखे तथा अपने इस अज्ञानमुलभ जगत्-शासन के भाव को संयत कर ले, तो इस भाव के समूल नष्ट होते ही वह संसार पर शासन कर सकेगा। परंतु जिस प्रकार कुछ पशु अपने से दो-चार कदम आगे कुछ नहीं देख सकते, इसी प्रकार हममें से अधिकांश लोग भविष्य के बारे में नितांत अदूरदर्शी होते हैं। हमारा संसार मानो एक क्षुद्र वर्तुल सा होता है, हम बस उसी में आबद्ध रहते हैं। हममें दूरदर्शिता के लिए धैर्य नहीं रहता और इसीलिए हम दुष्ट और नीच हो जाते हैं। यह हमारी कमजोरी है, शक्तिहीनता है।

अत्यंत सामान्य कर्मों को भी घृणा की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जो मनुष्य कोई श्रेष्ठ आदर्श नहीं जानता, उसे स्वार्थ दृष्टि से ही—नाम-यश के लिए ही—काम करने दो। परंतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को उच्चतर ध्येयों की ओर बढ़ने तथा उन्हें समझने का प्रबल यत्न करते रहना चाहिए। हमें कर्म करने का ही अधिकार है, कर्मफल में हमारा कोई अधिकार नहीं। कर्मफलों को एक ओर रहने दो, उनकी चिंता हमें क्यों हो? यदि तुम किसी मनुष्य की सहायता करना चाहते हो, तो इस बात की कभी चिंता न करो कि उस आदमी का व्यवहार तुम्हारे प्रति कैसा रहता है। यदि तुम एक श्रेष्ठ एवं भला कार्य करना चाहते हो, तो यह सोचने का कष्ट मत करो कि उसका फल क्या होगा।

यहाँ कर्म के इस आदर्श के संबंध में एक कठिन प्रश्न उठता है। कर्मयोगी के लिए सतत कर्मशीलता आवश्यक है; हमें सदैव कर्म करते रहना चाहिए। बिना कार्य के हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। तो फिर प्रश्न यह है कि आराम के बारे में क्या होगा? यहाँ इस जीवन-संग्राम के एक ओर है कर्म, जिसके तीव्र भँवर में फँसे हम लोग चक्कर काट रहे हैं और दूसरी ओर है शांति-सभी, मानो निवृत्तिमुखी हैं, चारों ओर सब शांत, स्थिर, किसी प्रकार का कोलाहल नहीं, केवल प्रकृति अपने जीवों, पुष्पों और गिरि-गुफाओं के साथ विराज रही है। पर इन दोनों में से कोई भी पूर्ण आदर्श का चित्र नहीं है। यदि एक ऐसा मनुष्य जिसे एकांतवास का अभ्यास है, संसार के चक्कर में घसीट लिया जाए, तो उसका उसी प्रकार ध्वंस हो जाएगा, जिस प्रकार समुद्र की गहराई में रहनेवाली एक विशेष प्रकार की मछली पानी की सतह पर लाए जाते ही टुकड़े-

टुकड़े होकर मर जाती है; क्योंकि सतह पर पानी का वह दबाव नहीं है, जिसके कारण वह जीवित रहती थी।

इसी प्रकार एक ऐसा मनुष्य, जो सांसारिक तथा सामाजिक जीवन के कोलाहल का अभ्यस्त रहा है, यदि किसी शांत स्थान को ले जाया जाए, तो क्या वह शांतिपूर्वक रह सकता है? कदापि नहीं। उसे क्लेश होता है, और संभव है उसका मस्तिष्क ही फिर जाए। आदर्श पुरुष तो वे हैं, जो परम शांत एवं निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म का, प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शांति एवं निस्तब्धता का अनुभव करते हैं। उन्होंने संयम का रहस्य जान लिया है—अपने ऊपर विजय प्राप्त कर चुके हैं। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उनका मन उसी प्रकार शांत रहता है, मानो वे किसी निःशब्द गुफा में हों, और फिर भी उनका मन सारे समय कर्म में तीव्र रूप से लगा रहता है। यही कर्मयोग का आदर्श है, और यदि तुमने यह प्राप्त कर लिया है, तो तुम्हें वास्तव में कर्म का रहस्य ज्ञात हो गया।

परंतु हमें शुरू से आरंभ करना पड़ेगा। जो कार्य हमारे सामने आते जाएँ, उन्हें हम हाथ में लेते जाएँ और शनैः-शनैः हम अपने को दिन-प्रतिदिन निस्स्वार्थ बनाने का प्रयत्न करें। हमें कर्म करते रहना चाहिए तथा यह पता लगाना चाहिए कि उस कार्य के पीछे हमारा हेतु क्या है। ऐसा होने पर हम देख पाएँगे कि आरंभावस्था में प्रायः हमारे सभी कार्यों का हेतु स्वार्थपूर्ण रहता है। किंतु धीरे-धीरे यह स्वार्थपरायणता अध्यवसाय से नष्ट हो जाएगी, और अंत में वह समय आ जाएगा, जब हम वास्तव में स्वार्थ से रहित होकर कार्य करने के योग्य हो सकेंगे। हम सभी यह आशा कर सकते हैं कि जीवन-पथ में अग्रसर होते-होते किसी-न-किसी दिन वह समय अवश्य ही आएगा, जब हम पूर्ण रूप से निस्स्वार्थ बन जाएँगे; और ज्योंही हम उस अवस्था को प्राप्त कर लेंगे, हमारी समस्त शक्तियाँ केंद्रीभूत हो जाएँगी तथा हमारा आभ्यंतरिक ज्ञान प्रकट हो जाएगा।

अपने-अपने कार्यक्षेत्र

में सब बड़े हैं

सांख्य मत के अनुसार प्रकृति त्रिगुणमयी है। ये तीन गुण हैं—सत्त्व, रज तथा तम। बाह्य जगत् में इन तीन गुणों का प्रकाश साम्यावस्था, क्रियाशीलता तथा जड़ता के रूप में दिखाई देता है। तम की व्याख्या अंधकार अथवा कर्मशून्यता के रूप में होती है, रज की कर्मशीलता अर्थात् आकर्षण एवं विकर्षण के रूप में, और सत्त्व इन दोनों की साम्यावस्था तथा संयमरूप होता है।

प्रत्येक व्यक्ति इन तीन गुणों से निर्मित है। कभी-कभी जब तमोगुण प्रबल होता है, तो हम सुस्त हो जाते हैं, तब मानो हिलडुल तक नहीं सकते और निष्कर्म होकर कुछ विशिष्ट भावनाओं के दास हो जाते हैं। फिर कभी-कभी कर्मशीलता का प्राबल्य होता है; और कभी-कभी इन दोनों के संयमरूप सत्त्व की प्रबलता होती है, जिससे मन शांत भाव धारण करता है। फिर, भिन्न-भिन्न मनुष्यों में इन गुणों में से कोई एक सबसे प्रबल होता है। एक मनुष्य में कर्मशून्यता, सुस्ती और आलस्य के गुण प्रबल रहते हैं; दूसरे में कर्मशीलता, उत्साह एवं शक्ति के, और तीसरे में हम शांति, मृदुता एवं माधुर्य का भाव देखते हैं, जो पूर्वोक्त दोनों गुणों अर्थात् कर्मशीलता एवं कर्मशून्यता का सामंजस्य-स्वरूप होता है। इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि में—पशुओं, वृक्षों और मनुष्यों में—हमें इन विभिन्न गुणों का, न्यूनाधिक मात्रा में, वैशिष्ट्यपूर्ण प्रकाश दिखाई देता है।

कर्मयोग का संबंध मुख्यतः इन तीन गुणों से है। कर्मयोग हमें यह बतलाकर कि उनका स्वरूप क्या है तथा उनका किस प्रकार उपयोग होना चाहिए, हमें अपना कार्य अच्छी तरह से करने की शिक्षा देता है। मानव-समाज एक श्रेणीबद्ध संस्था है, इसके अंतर्गत सभी मनुष्य एक-एक श्रेणी में विभक्त और भिन्न-भिन्न सोपान में अवस्थित हैं। हम सभी जानते हैं कि सदाचार तथा कर्तव्य किसे कहते हैं; परंतु फिर भी हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न देशों में सदाचार के संबंध में अलग-अलग धारणाएँ हैं। एक देश में जो बात सदाचारयुक्त मानी जाती है, संभव है, दूसरे देश में वही नितांत दुराचार समझी जाए। उदाहरणार्थ, एक देश में चचेरे भाई-बहिन आपस में विवाह कर सकते हैं, परंतु दूसरे देश में यही बात बुरी मानी जाती है। किसी देश में लोग अपनी साली से विवाह कर सकते हैं, परंतु यही बात दूसरे देश में बड़ी खराब समझी जाती है। फिर कहीं-कहीं लोग एक ही बार विवाह कर सकते हैं, और कहीं-कहीं कई बार, इत्यादि-इत्यादि। इसी प्रकार, सदाचार की अन्यान्य बातों के संबंध में भी विभिन्न देशों में बहुत भिन्न-भिन्न धारणाएँ रहती हैं। फिर भी हमारी यह धारणा है कि सदाचार का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है।

यही बात कर्तव्य के बारे में भी है। भिन्न-भिन्न जातियों में कर्तव्य के बारे में अलग-अलग धारणा होती है। किसी देश में यदि एक मनुष्य कुछ विशिष्ट कार्य नहीं करता, तो लोग उस पर दोषारोपण करते हैं; परंतु अन्य किसी देश में यदि वह मनुष्य वही कार्य करता है, तो वहाँ के लोग कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया। फिर भी हम जानते हैं कि कर्तव्य का एक सार्वभौमिक आदर्श अवश्य है। इसी प्रकार, एक समाज सोचता है कि कुछ विशिष्ट बातें ही कर्तव्य-स्वरूप हैं; परंतु दूसरे समाज का विचार बिलकुल विपरीत होता है और वह उन कार्यों को करना एक पातक समझेगा। अब हमारे समुख दो मार्ग खुले हैं। एक अज्ञानी का, जो सोचता है कि सत्य का मार्ग केवल एक ही है तथा अन्य सब प्रमात्मक हैं; और दूसरा ज्ञानी का, जो यह मानता है कि हमारी मानसिक दशा तथा परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य तथा सदाचार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अतएव जानने योग्य प्रधान बात यह है कि कर्तव्य तथा सदाचार के विभिन्न स्तर होते हैं, और एक अवस्था के, एक परिस्थिति के कर्तव्य दूसरी परिस्थिति के कर्तव्य नहीं हो सकते।

उदाहरण के लिए सब महापुरुषों का उपदेश है कि अशुभ के प्रतिकार की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अशुभ का अप्रतिकार ही सर्वोच्च नैतिक आदर्श है। हम जानते हैं कि यदि हम लोग इस कहावत को पूर्णतः चरितार्थ करने लगे, तो समाज के सारे बंधन ही छिन्न-भिन्न हो जाएँ। चोर और लुटेरे हमारी जान-माल पर हाथ साफ करने और मनमानी करने लगे। यदि इस प्रकार का अप्रतिकार-धर्म एक दिन भी आचरण में लाया गया, तो बड़ी गड़बड़ी मच जाएगी। परंतु फिर भी अपने हृदय के अंतस्तल से हम अप्रतिकार-रूप उपदेश की सत्यता भीतर-ही-भीतर अनुभव करते रहते हैं, हमें यह सर्वोच्च आदर्श प्रतीत होता है; परंतु यदि केवल इस मत का ही प्रचार किया जाए, तब तो अधिकांश मनुष्यों को ही अन्यायकर्मी कहकर तिरस्कृत कर देना होगा। इतना ही नहीं, बल्कि इसके द्वारा मनुष्यों को सदा यही अनुभव होने लगेगा कि वे अन्याय ही कर रहे हैं। उनके हृदय में प्रत्येक कार्य के बारे में संकल्प-विकल्प सा होने लगेगा, उनका मन दुर्बल हो जाएगा तथा अन्य किसी व्यसन की अपेक्षा आत्म-धिवक्कार उनमें अधिक दुर्गुणों का संचार कर देगा। जो व्यक्ति अपने प्रति घृणा करने लगा है, उसके पतन का द्वार खुल चुका है। और यही बात जाति के संबंध में भी घटती है। हमारा पहला कर्तव्य यह है कि हम अपने प्रति घृणा न करें; क्योंकि आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम स्वयं में विश्वास रखें और फिर ईश्वर में जिसे स्वयं में विश्वास नहीं, उसे ईश्वर में कभी भी विश्वास नहीं हो सकता। अतएव हमारे लिए जो एकमात्र रास्ता रह जाता है, वह यह कि हम समझ लें कि कर्तव्य तथा सदाचार की धारणा विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। यह बात नहीं कि जो मनुष्य अशुभ का प्रतिकार कर रहा है, वह कोई ऐसा काम है, जो सदा और स्वभावतः अन्यायपूर्ण है, वरन् भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार अशुभ का प्रतिकार करना उसका कर्तव्य ही हो सकता है।

संभव है, श्रीमद्भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय पढ़कर तुम पाश्चात्य देशवालों में से बहुतों को आश्चर्य हुआ हो, क्योंकि उस अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कपटी तथा डरपोक कहा है और वह इसलिए कि अर्जुन ने अपने संबंधियों तथा मित्रों से यह कहकर लड़ने